निबंध

क्षणों की अथाह नीलिमा
धर्मवीर भारती

21 नवंबर, 1950

जब आप जिंदगी के भीड़-भाड़ वाले राजर्मा पर थके-हारे, भीड़ की लहरों में धक्के खाते हुए, विवश आगे ढकेलते जा रहे हों और आपको अकस्मात एक छोटी पगडंडी रास्ते से फूटती दिखाई दे, जो परिचित हरीतिमा को गुदगुदाती हुई किसी अपरिचित ठिकाने को जा रही हो, तो मैं आप से आग्रह करता हूँ कि बिना कुछ भी सोचे-समझे, जल्दी से, तमाम जरूरी से जरूरी काम छोड़कर उस पगडंडी पर मुड़ जाइए। कभी-कभी थोड़ा पलायन बहुत स्वस्थ होता है।

इसका अहसास मुझे तब हुआ जब मैंने अपने को भटकते-भटकते उस चर्च के अहाते में पाया जब सूरज डूब रहा था। और अकस्मात मीनार पर घंटे बजने लगे और हम दोनों मरियम की मूर्ति के सामने खड़े थे। बड़ी शीतलता थी। नीचे नम धरती पर एक खास तरह की घास जमायी गई थी हरी, छोटी-छोटी हथेलियों जैसी, जमीन को छोये हुए, और तुम बेहद उदास थीं और मैं चुप और अंदर से भरा-भरा। और बिना कुछ बोले जैसे मैं तुम्हारे मन को टटोल रहा था, सान्त्वना दे रहा था, और बिना कुछ बोले तुम अपरिचित ममता से मुझे कण-कण भरे दे रही थीं। और न मैंने तुम्हारी ओर देखा न तुमने मेरी ओर... हम दोनों मरियम की मूर्ति की ओर देख रहे थे और लगता था जैसे वहाँ हम मिल रहे हों, एक दूसरे में घुल रहे हों और डूबते सूरत की हलकी सिन्दूरी छाँह में मैं जैसे नहाकर ताजा हो उठा था...

सच तो यह है कि यह जो कम्बख्त साहित्य की जिंदगी है यह इतनी कृत्रिम है, इतनी बनावटी है, इतनी अस्वाभाविक है कि मन घुटने लगता है। धीरे-धीरे वे क्षण बिलकुल दुर्लभ हो जाते हैं जब हम जीवन जीते हैं, गहराई में जीते हैं। अब मैंने सोचा है कि साहित्य की इस सार्वजनिक हलचल को जरा श्रद्धापूर्वक प्रणाम करूँगा। और अपनी जिंदगी फिर पहले जैसी बनाऊँगा...फूल, प्यार और सुख-दुख के गहरे हिलकोरों वाली। खुशनुमा, उज्ज्वल, पवित्र और रंगारंग। पावस की शाम को बादलों में हजारों रंग की फुलझाड़ियाँ खिल आती हैं न...बिलकुल वैसी ही।

22 नवंबर, 1956

और अकारण क्यों विश्लेषण किया जाय और क्यों तर्क वितर्क किया जाय और क्यों उधेड़बुन की जाय और क्यों मन के चारों ओर रेखाएँ खींची जायँ? मन के चंदन कपाट खोल दो और जो भी लहराती झकोर आ रही है उसे आने

दो और अपने पूजा गीत की वह पंक्ति मत भूलो... "अर्पित होने के अतिरिक्त और राह नहीं।" क्षणों के इस अनन्त प्रवाह में अपनी पूजानत अंजलि डाल दो और जो कुछ बहता हुआ चला आ रहा है उससे हाथ मत खींचों, उसे दुलार से उठाकर कृतज्ञतापूर्वक माथे से लगा लो और फिर उसी बहाव में डाल दो जिसने वह दिया था.. इदन्न मम। और इन क्षणों की अथाह नीलिमा में सिर्फ डूब जाओ.. जैसे कोई किसी प्रभाती के आलाप में डूब जाए गहरे, और गहरे... और उसमें से निकले तो आँसू में घुला हुआ, अमृत में नहाया हुआ जिसका हर स्पर्श ज्योति का स्पर्श हो और हर आलिंगन ऐसा परम, ऐसा एब्सोल्यूट जैसे संगीत का स्वर तारों में लिपटा सोया रहता है।

क्षणों की अथाह नीलिमा। नीलिमा। नीले रंग के साथ एक आसंग (एसोसियेशन) है न... कितना पुराना और बार-बार अपने को दोहराने वाला।

नीलेपन की पहली अथाह गहराई मुझे आच्छादित कर गई थी। याद है कब? जब मैं शायद बी.ए. में पढ़ता था और अल्फ्रेड पार्क के एक हिस्से में दूर-दूर तक सिर्फ नीली वर्बीना बोयी गई थी और नीले फ्लाक्स... और फूलों के उस असीम नीले विस्तार में जाने क्यों मैं अकस्मात रो पड़ा था और उनमें से कुछ फूल लाकर मैंने कामायनी के पन्नों में दबाकर सुखाए थे। बरसों उन्हें सहेजे रहा था। किशोर मन की वह पहली सहज भावाकुलता कितनी मीठी थी। मैं एक 19 साल का बहादुर कोलंबस नीलिमा के अज्ञात समुद्र में अपना छोटा सा जहाज लेकर निकल पड़ा था। और मेरे उस अत्यन्त मधुर व्यक्तित्व में सभी जहाजियों का अंश था, यूलिसिस भी, सिन्दबार भी, कोलंबस भी और थोड़ा-थोड़ा ग्रीम कथाओं का वह इकारस भी, जो आकाश में ऊपर उड़ा था, पंख जल जाने से नीचे समुद्र की एक चट्टान के पास जा गिरा था और कहते हैं जलपरियाँ उसके शोक में आज भी आधी रात को उदास गीत गाती हैं और उसके पंखों पर उड़ने वाली सुनहरी मछलियाँ आ बैठती हैं और उनकी अलकों से खारे पानी के मोती चूते रहते हैं और गले में, बाँहों में, वक्ष पर जलफूलों वाली सिवार लिपटी रहती है।

आपने कभी जलपरी देखी है?

नहीं?

मैंने देखी है।

क्वार-कातिक के आसमान में अकस्मात ऊदे-ऊदे बादल घिर आए थे... बहुत बरस पहले की बात है... और घुप अँधेरा था और बीच-बीच में बिजलियाँ चमक रही थीं, खिड़की के सामने दूर तक जाती हुई पक्की गली, गली के सीढ़ियाँ, मकानों के खाली चबूतरे, छतें, और ऊपर टँगे हुए आकाशदीप उन बिजलियों के प्रकाश में वैसे काँप उठते थे जैसे जल में पड़ती हुई किसी नगर की छाया काँप-काँप उठे और एक अजीब बात थी, उस दिन की बिजलियाँ गहरे नीले, बल्कि बैंजनी रंग की थीं... लेकिन उसके बारे में और कुछ नहीं बताऊँगा... सिर्फ इतना बताऊँगा कि एक दिन तो नीले फूल ऐसे लगे थे जैसे नीले क्षण खिल आए हों और असीम विस्तार में फैल गए हों... पर उस दिन नीलेपन के दूसरे आयाम का बोध हुआ विस्तार नहीं बल्कि असीम गहनता और किसी निकट खड़ी जलपरी के केशों पर, माथे पर, कंधों पर, बाँहों पर फिसलती हुई क्वार की बौछार की असीम मधुराई और कोमलता। और उन दिनों मैं ऑस्कर वाइल्ड की कुछ पंक्तियाँ दोहराया करता था जो अब पूरी तो याद नहीं पर पहला टुकड़ा था... "व्हाइट बॉडी मेड फॉर लव एंड पेन" और अंतिम टुकड़ा था "डेसोलेट ब्लू, फ्लावर बीटेन बाई द रेन"...

और दूसरे क्षण की अथाह नीलिमा मुझे याद आ रही है, भरा-भरा चाँद चढ़ आया था... और चारों ओर सन्नाटा और नीले थाल से झरने वाली गोरी चाँदनी... मादक गंधमयी... और मड़िहान के श्वेत कमन सम्पुटों से मैंने जिनका संकेत किया था, उनके बीच एक नीले कमल की कली जिसका शोख पतला शरारती मृणाल गले को घेर कर्णमूलों को छूता हुआ (बरसों पहले की बात है, मेरे एक कवि और चित्रकार मित्र ने बहुत डूबकर पूछा था... 'तुम प्रणयोन्माद का रंग क्या मानते हो?' मैंने कहा था..'नीला... फालसई नीला'...) और फालसई नीली लहरों की एक गुँजलक दो छेड़े हुए तार सरीखे काँपते हुए जिस्मों को कस लेती है, जकड़ लेती है, बहा ले जाती है।

और क्षण की अथाह नीलिमा का एक दूसरा चित्र मेरे स्मृतिपट पर उभर रहा है... शाम की धुंध। हलके नीले पुते मेरे कमरे में धूप के धुएँ की लहरों का जाल। ऊपर सिर्फ एक लजीली नीली बत्ती जल रही थी और सिरहाने तिरछी कुर्सी पर तिरछी बैठी हुई मृदुल नील ममता। मुझ पर आशीर्वाद सी छायी हुई... चंदन के धुएँ सी प्रगाढ़ और पवित्र और पूजामयी और एक अनन्त गहराई और अनन्त ऊँचाई वाला प्यार जो देने से घटता नहीं, जो आदमी को ऊँचा उठाता है...उदार, प्रांजल, सहज और सशक्त बनाता है...

और नीला क्षण एक वह भी था जब हिमालय की घाटियों में पहली बार नीले बादलों के श्वेत अंधकार से घिर गया था और सब कुछ लुप्त हो गया था और विराट् के सामने मैं अकेला था-बिलकुल अकेला ...

और ऐसे क्षणों में जब मनुष्य विराट् के सम्मुख अपने को बिलकुल अकेला पाता है तो वह एक बार अपने सारे अस्तित्व देखता है, जाँचता है और पाता है कि सब नष्ट हो गया है, सिर्फ वे चंद क्षण बच रहे हैं जिनमें उसने अपने को दिया है असीम ममता से, असमी पवित्रता से, असीम माधुर्य से... बाकी सब झूठ है... कटुता, द्वेष, पार्थक्य, खाइयाँ, शिविर, दीवारें, सब मनमानी हैं... असली नहीं... असली है केवल ममता केवल माधुर्य।

1 जनवरी, 1957

बादलों से ढँकी हुई जाड़े की सुबह। ठिठुरे हुए खामोश पेड़। कल रात दिल्ली से लौटाने के बाद जरुरी था कि कमरे की सफाई की जाय। कौन से पाप दिल्ली ले गए थे भगवान। एक सम्मेलन में एशिया भर के लेखक जुड़े थे। क्या-क्या कुंठित महत्वाकांक्षाएँ, आहत अहम... नौकरशाही हथकंडे, दुराग्रहपूर्ण वक्तव्य, नकली चेहरे, खपचियाँ, भरे हुए भोंपू, सजे हुए हाल और रंग बिरंगी पार्टियाँ। उस अत्यन्त अरुचिकर स्थान से अपने इस छोटे से शांत घर लौटना कितना सुखद है जहाँ क्यारी-क्यारी छींटेदार रंगीन फूलों से भर गई हैं और खिड़की से डहलिया उझक-उझक कर हँसी बिखेर रही है। मैं जी भरकर नहाया, और दिमाग और दिल पर से दिल्ली को उतार फेंका और पाठ करने बैठा तो अकस्मात रामायण का जो पृष्ठ खुला उसका पहला दोहा था :

> "नील सरोरुह, नीलमणि, नील नीलधर स्याम।
>
> लाजहिं तन सोभा निरखि, कोटि कोटि सत काम।"

और पता नहीं क्यों मेरा बदन काँप उठा और पलकें छलछला आईं ... ऐसा लगा कि इन नीलिमा में डूबे हुए परम क्षणों की एक अजस्त्र धारा नीचे नीचे कहीं प्रवाहित हो रही है। ऊपर खाबड़ चट्टानें हैं जिनके नीचे वह जमींदोज बहती जा रही है। चलते चलते मैं उसे भूल जाऊँ पर एक क्षण को भी रुकता हूँ तो उस अंदर बहने वाली निर्झरिणी का धीमा कल-कल फिर गूँजने लगता है।

मैंने कभी मृत्यु के बारे में नहीं सोचा, पर कभी-कभी यह जरुर सोचता हूँ कि जिये जाने वाले क्षणों की यह जो अंतर्ग्रथित श्रृंखला है इसका कहीं न कहीं तो अंत होगा ही। औ जब होगा तब कुछ खास नहीं होगा... मैं तो, स्वर्ण पराग सा उसी तरह महकता रहूँगा, सिर्फ नीले क्षण पाँखुरियों की तरह ऊपर से घिरने लगेंगे, सिमटने लगेंगे और धीरे-धीरे फूल मुँद जाएगा। और फिर सब शांत हो जाएगा। सिर्फ डूबती साँझ में मुँदे कमल की हलकी उदास छाँह थोड़ी देर तक सरोवर में काँपती रहेगी, काँपती रहेगी... और बस।

■ ■ ■

शीर्ष पर जाएँ